।। सर्व जिन चउतीस अतिसय वीनती ।।

म. विनयसागर

शत्रुञ्जय मण्डन नाभिसूनु श्री ऋषभदेव की वीनती अपभ्रंश भाषा में की गई है । श्री जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार, जैसलमेर में इसकी १६वीं शताब्दी की प्रति होने से यह निश्चित है कि यह अपभ्रंश रचना १६वीं शताब्दी के पूर्व की ही है ।

तीर्थंकर देव के ३४ अतिशय माने गए हैं । जिसमें से चार तो उनके जन्मजात ही होते हैं । दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् कर्मक्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, कर्मक्षय के ११ अतिशय माने जाते हैं और शेष १९ अतिशय केवलज्ञान प्राप्ति के बाद तीर्थंकरों की महिमा करने के लिए देवताओं द्वारा विकुर्वित किए जाते हैं । इन चौतीस अतिशयों की महिमा जैन तीर्थंकरों की महिमा के साथ प्रायःकर सभी स्थलों पर प्राप्त होती है ।

अतिशय की परिभाषा करते हुए अमरसिंह ने अमरकोश में 'अत्यन्त उत्कर्ष' को अतिशय माना है और आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि नाममाला कोश में 'जगतोऽप्यतिशेरते तीर्थकरा एभिरित्यतिशयाः', कहकर व्युत्पत्ति प्रदान की है । हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि नाममाला कोश में वर्गीकरण करते हुए ३४ अतिशयों का वर्णन किया है । वे ३४ अतिशय निम्न हैं :-

जन्म जात ४ अतिशय

१. शरीर - अद्भुत रूप और अद्भुत गन्ध वाला निरोगी एवं प्रस्वेदरहित होता है ।

२. श्वास - कमल के समान सुगन्धित श्वास होता है ।

३. रुधिर-माँस-अविस्र - गाय के दूध के जैसे श्वेत होते हैं और दुर्गन्धिरहित होते हैं ।

४. आहार-निहार-अदृश्य - आहार और निहार विधि अदृश्य होती है ।

कर्मक्षय से उत्पन्न ११ अतिशय

१. क्षेत्रस्थिति योजन – एक योजन प्रमाण में कोटाकोटि देव, मनुष्य और तिर्यंच रह सकते हैं ।

२. वाणी – अर्द्धमागधी भाषा में तीर्थंकर देशना देते हैं, वह भाषा देव, मनुष्य और तिर्यंचों में परिणमित हो जाती है और योजन प्रमाण श्रवण करने में आती है ।

३. भामण्डल – सूर्य मण्डल से अधिक प्रभा करते हुए भामण्डल मस्तक के पीछे होता है ।

४. रुजा – १२५ योजन तक बीमारियाँ नहीं होती है ।

५. वैर – १२५ योजन तक सब जन्तुगण पारस्परिक वैर का त्याग करते हैं ।

६. ईति – १२५ योजन तक धान्यादि को उपद्रव करने वाले जीवों की उत्पत्ति नहीं होती ।

७. मारी – १२५ योजन तक अकालमरण एवं औत्पातिक मरण नहीं होता है ।

८. अतिवृष्टि – १२५ योजन तक अतिवृष्टि नहीं होती है ।

९. अवृष्टि – १२५ योजन तक अवृष्टि नहीं होती है ।

१०. दुर्भिक्ष – १२५ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं होता है ।

११. भय – १२५ योजन परचक्र का भय नहीं होता है ।

देवकृत १९ अतिशय

१. धर्मचक्र – आकाश में धर्मचक्र चलता है ।

२. चमर – भगवान के दोनों तरफ चामर वींझते रहते हैं ।

३. सिंहासन – पादपीठिकासहित स्फटिक रत्न का सिंहासन होता है ।

४. छत्रत्रय – तीर्थंकर के सिर पर तीन छत्र सुशोभित होते हैं ।

५. रत्नमय ध्वज – रत्नमय ध्वजा आगे चलती है ।

६. स्वर्ण कमल – विहार करते हुए स्वर्ण कमलों पर पैर रखते हैं ।

७. वप्रत्रय – समवसरण की रचना होती है जिसमें रजत, स्वर्ण और रत्न

के तीन प्रकार के गढ़ होते हैं ।

८. चतुर्मुखाङ्गता – समवसरण में तीर्थंकर के चार मुख होते हैं ।
९. चैत्यद्रुम – अशोक वृक्ष के नीचे भगवान विराजमान होते हैं ।
१०. कण्टक – भगवान विहार करते हैं तो कण्टक भी अधोमुखी होते हैं।
११. द्रुमानति – विहार करने के समय वृक्ष अत्यन्त झुक जाते हैं ।
१२. दुन्दुभिनाद – देव दुन्दुभि बजाते रहते हैं ।
१३. वात – अनुकूल सुख प्रदान करे ऐसी वायु का संचालन होता रहता है ।
१४. शकुन – पक्षी भी तीन प्रदक्षिणा करते हैं ।
१५. गन्धाम्बुवर्त – सुगन्धित पानी की वर्षा होती है ।
१६. बहुवर्ण पुष्पवृष्टि – पंचवर्ण वाले फूलों की वृष्टि होती रहती है ।
१७. कच, श्मश्रु, नख-प्रवृद्ध – बाल, दाढ़ी, मूँछ और नखों की वृद्धि नहीं होती है ।
१८. अमर्त्यनिकायकोटि – तीर्थंकर की सेवा में कम से कम एक करोड़ देवता रहते हैं ।
१९. ऋतु – सर्वदा सुखानुकूल षड्ऋतुएँ रहती हैं ।

प्रस्तुत कृति में रचनाकार ने जन्मजात केवलज्ञान और देवकृत अतिशयों का विभेद नहीं किया है । साथ ही क्रम भी कुछ इधर-उधर हैं। फिर भी अपभ्रंश भाषा की यह कृति सुन्दर और सुप्रशस्त है । वीनती इस प्रकार है :-

नाभिनरिंद मल्हार, मरुदेवि माडिउ उरि रयणु ।
अविगतरूपु अपार, सामी सेत्रुज सइं धणिय ॥१॥

सोवणवन्न सरीर, तिहुअण तारण वेडुलिय ।
मारि वीडारण वीर, सुणि सामी मुज्झ वीनतीय ॥२॥

जिण अतिसय चउतीस, जे सिद्धंतिहिं वण्णविय ।
ते समरउं निसि दीस, जिम उलग लागइ भलीय ॥३॥

रोग न लागइ अंगि, रंगिइं सुरवर पइं नमइं ।
भमर भमइं चहु भंगि, तुह मुह परिमल मिलिय मण ॥४॥

मंस रुहिर तुह वेउ, दुद्धधार जिम हुइ धवल ।
अंगि न लागइ सेउ, तणु पुणु निम्मल न्हाण विणु ॥५॥

जिण आहार करंत, नवि दीसइ नीहार पुण ।
चउमुह धम्मु कहंति, वाणी जोजणगामिणिय ॥६॥

समोसरणि संमाइ, कोडिसंख सुरनर-तिरिय ।
कांटा ऊंधा थाइं, फूलपगर गूडा समउ ॥७॥

एक सरीखी वाणि, पारीछइं सुरनर तिरिय ।
सय-पणवीसपमाण, दह दिसि संकट उपसमइं ॥८॥

सातइ ईति समंति, वयरु वली जइ वइरियहं ।
मारि ण जन मारंति, देसि दुकाल तपइ(न पइ?) सरए ॥९॥

दीसइ गयणि फुरंत, धम्मचक्क तुह जिणप्रवर ।
भामंडलु झलकंति, सिर पाखलि थिउ संचरए ॥१०॥

परमेसर पयहेठि, सुर संचारइ नव कमल ।
सत्रु मित्र समदृष्टि, रयणसिंघासण बइसणु ए ॥११॥

इंद्र-धजा आकासि, अन प्रभ पाखलि त्रिन्नि गढ ।
गंधोदक वरिसंति, पुष्पवृष्टि सुरवर करइं ॥१२॥

त्रिन्नि प्रदक्षिण दिंति, तुह पाखलि सवि पंखियहं ।
चिहु पखि चमर ढुलंति, चेईतरुअर वीरगुणउ ॥१३॥

तरुअर अहलु ढुलंति, एव मु फरक्कइ कोमलउ ।
अनवाई वाजंति, दह दिसि दुंदुहि देवकिय ॥१४॥

कुसुम तणी परि देह, जनम लगइ परिमल बहुल ।
कोइ न पामइं छेह, असंख्यात जिणवर गुणहं ॥१५॥

अणहूंतइं इक कोडि, समोसरण सुर पामीयए ।

वाजित्रं कोडा-कोडि, अणवाई वाजइं गयणि ॥१६॥

रोम राय नह केस, व्रत लीधइ वाधइ नहि य ।
पाप प्रमाद प्रवेसु, करइ न जिणवर सयरि खणु ॥१७॥

ए अतिसय चउतीस, सामी तुअ तणि सवि वसइ ।
मू मणि एह जगीस, जाणउ जइ तउ इउ लगउ ॥१८॥

तूं माया तूं तात, तूं बांधव तूं मज्झ गुरु ।
तउं विणु नही उपाउ, सुगति पंच पंचिय जणहं ॥१९॥

तउ पर परमानंद, परमपुरुष तउं परमपउ ।
तइं मोडिय भवकंदु, तइं अणुबंधित कलपतरु ॥२०॥

निय पय पंकय सेव, विमलाचलमंडण रिसह ।
अह निसि देजे देव, अवरु न कांई इच्छिय ए ॥२१॥

॥ सर्व जिन चउतीस अतिसय वीनती ॥

★